लोक रचना, वातवलय, त्रसनाड़ी, जीवों की उत्पत्ति आदि का विवेचन

"जैन लोकविज्ञान में लोक-रचना, वातवलय, त्रसनाड़ी एवं जीवोत्पत्ति : एक आगमिक अध्ययन"

लेखकः

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन

संयुक्त मंत्री – अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्

शोध-सार

जैन दर्शन का लोकविज्ञान केवल ब्रह्माण्ड की भौतिक संरचना का निरूपण नहीं है, अपितु यह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–इन षट्द्रव्यों के पारस्परिक अस्तित्व, जीव की गति, कर्मफल, जन्म-मरण तथा मोक्ष की दिशा को समझने वाला एक व्यापक दार्शनिक प्रतिमान है। जैन परम्परा में लोक को अनादि, अकृत्रिम तथा उस आकाशीय क्षेत्र के रूप में प्रतिपादित किया गया है जिसमें जीव, पुद्गल आदि द्रव्य विद्यमान हैं। इसके बाहर अनन्त आकाश अलोक है। उपलब्ध सामग्री में लोक के मनुष्याकार, वेत्रासनाकार तथा मृदंगाकार स्वरूप, चौदह राजू की ऊँचाई, अधोलोक-मध्यलोक-ऊर्ध्वलोक की त्रिभागात्मक संरचना तथा सात नरक-पृथिवियों का विशद विवेचन प्राप्त होता है।

लोक की संरचना को धारण एवं आवेष्टित करने वाले तीन वातवलय–**घनोदधि, घनवात और तनुवात**–जैन लोकविज्ञान की विशिष्ट अवधारणाएँ हैं। *तिलोयपण्णत्ति* में इनके वर्ण, क्रम तथा लोक से संबंध का स्पष्ट निरूपण मिलता है। इसी प्रकार लोक के मध्य स्थित **त्रसनाड़ी** त्रस जीवों के सामान्य निवास-क्षेत्र के रूप में वर्णित है, जबकि पाँच स्थावर काय के जीवों की उपलब्धता सम्पूर्ण लोक में मानी गई है। विशेष अवस्थाओं में त्रस जीवों के त्रसनाड़ी से बाहर पाए जाने की आगमिक व्याख्या भी उपलब्ध है।

जीवोत्पत्ति के संदर्भ में जैन दर्शन की मूल मान्यता यह है कि जीव की कोई नवीन सृष्टि नहीं होती; जीव अनादि है। अतः 'जीवोत्पत्ति' से अभिप्राय कर्म के उदय के अनुसार जीव का नई गति एवं नई पर्याय में जन्म ग्रहण करना है। नरकगति के जीवों के उत्पत्ति-स्थल, उनके जन्म की स्थिति,

नरकगति से निकलने के पश्चात् संभावित पर्याय तथा विभिन्न नरक-पृथिवियों से संबंधित आध्यात्मिक संभावनाएँ इस लोकविज्ञान को कर्मविज्ञान से जोड़ती हैं।

बीज-शब्दः लोक, अलोक, लोकाकाश, अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, वातवलय, घनोदधि, घनवात, तनुवात, त्रसनाड़ी, त्रस, स्थावर, जीवोत्पत्ति, नरकगति, कर्म, मोक्ष।

❖ प्रस्तावना

जैन दर्शन में छह द्रव्यों—**जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल**—की सत्ता स्वीकार की गई है। इन द्रव्यों में जीव, पुद्गल आदि जिन आकाश-प्रदेशों में विद्यमान हैं, वह क्षेत्र **लोक** कहलाता है और लोक के बाहर का अनन्त आकाश **अलोक** है। इस दृष्टि से लोक मात्र पृथ्वी, ग्रह अथवा मनुष्य के निवास का नाम नहीं है, बल्कि वह सम्पूर्ण संसार-व्यवस्था का क्षेत्र है।

जैन लोकविज्ञान की विशिष्टता इस बात में है कि यहाँ ब्रह्माण्ड का वर्णन जीव-विज्ञान और कर्म-सिद्धान्त से पृथक नहीं किया गया है। अधोलोक की नरक-पृथ्वियाँ, मध्यलोक के द्वीप-सागर, ऊर्ध्वलोक के देव-विमान तथा लोकाग्र का सिद्धलोक—ये सभी जीव की गति और कर्मफल की व्यापक व्यवस्था से सम्बद्ध हैं इसीलिए जैन लोकविज्ञान का अध्ययन वस्तुतः **लोक-रचना और जीव-यात्रा के अंतर्संबंध** का अध्ययन भी है।

➢ लोक की संकल्पना

- **लोक का लक्षण** - लोक की व्याख्या मुख्यतः उसके द्रव्यात्मक आधार से होती है। जिस आकाश-प्रदेश में जीव, पुद्गल आदि द्रव्य विद्यमान हैं, वह लोक है; इसके बाहर का अनन्त आकाश अलोक है। इस प्रकार— **लोक = द्रव्य-संबंधित, आकाश-प्रदेश अलोक = द्रव्य-संबंध से रहित अनन्त आकाश-प्रदेश।**

राजवार्तिकीय व्याख्या में लोक को पुण्य-पाप के फलस्वरूप सुख-दुःख के अनुभव के क्षेत्र तथा सर्वज्ञ द्वारा ज्ञेय क्षेत्र के रूप में भी व्याख्यायित किया गया है। अतः 'लोक' शब्द में **स्थान, द्रव्य और अनुभव**—तीनों आयाम समाहित हैं।

यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः। आत्मा लोकति पश्यत्युपलभतेऽर्थानिति लोकः।
सर्वज्ञेनानन्ताप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि लोक केवल बाह्य भौगोलिक संरचना नहीं, बल्कि अनुभव और ज्ञान का भी क्षेत्र है।

- **लोक अनादि एवं अकृत्रिम**

जैन दर्शन के अनुसार लोक किसी सृष्टिकर्ता द्वारा निर्मित नहीं है। लोक **अकृत्रिम, अनादि और अनन्तकाल से विद्यमान** है। इसका कोई निर्माता नहीं है और किसी एक समय में शून्य से इसकी सृष्टि नहीं हुई। यह अवधारणा जैन दर्शन के अनादित्व-सिद्धान्त से सीधे जुड़ी है। जिस प्रकार जीव और अन्य द्रव्यों की सत्ता अनादि मानी जाती है, उसी प्रकार लोक की सत्ता भी किसी प्रारंभिक सृष्टि पर निर्भर नहीं है। इस दृष्टि से जैन लोकविज्ञान में **सृष्टि-सिद्धान्त की अपेक्षा स्थिति, परिवर्तन और पर्याय-सिद्धान्त** अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

- **लोक का आकार**

जैन परम्परा में लोक का आकार सामान्य गोल, घनाकार या सपाट नहीं माना गया है। *तिलोयपण्णत्ति* में लोक के विभिन्न विभागों को वेत्रासन और मृदंग के उपमान से समझाया गया है।

हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण।
मज्झिमलोयायारो उब्भियमुर अद्धसारिच्छो।।137।।

उवरिमलोयाआरो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो।
संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हिं साहेमि।।138।।[2]

भावार्थ :- अधोलोक स्वभाव से वेत्रासन के समान, मध्यलोक खड़े किए हुए आधे मृदंग के ऊपरी भाग के समान तथा ऊर्ध्वलोक खड़े किए हुए पूर्ण मृदंग के समान है।[3]

अतः विभिन्न उपमानों का समन्वय करने पर लोक एक ऐसी ऊर्ध्वाधर संरचना के रूप में सामने आता है जिसकी चौड़ाई विभिन्न स्तरों पर बदलती रहती है।

---

[1] **राजवार्तिक, 5/12/10-13/455/20**
[2] **तिलोयपण्णत्ति 1/137-138**
[3] **अन्य संदर्भ**— धवला, 4/1,3,2/गाथा 6/11; त्रिलोकसार, 6; जंबूद्वीपपण्णत्तिसंगहो, 4/4-9; द्रव्यसंग्रह टीका, 35/112/11।

- **लोक का विस्तार एवं ऊँचाई**
- **चौदह राजू की ऊँचाई**

सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं।

पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त येक्कपंचेक्का।।149।।[4]

चोद्दसरज्जुपमाणो उच्छेहो होदि सयललोगस्स।

अद्धमुरज्जस्सुदवो समग्गमुखोदयसरिच्छो।।150।।[5]

हेट्ठिममज्झिमउवरिमलोउच्छेहो कमेण रज्जू वो।
सत्त य जोयणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू।।151।।[6]

इन गाथाओं के आधार पर संपूर्ण लोक की ऊँचाई 14 राजू बताई गई है। अधोलोक की ऊँचाई सात राजू है; मध्यलोक का ऊर्ध्वाधर विस्तार एक लाख योजन बताया गया है और ऊर्ध्वलोक शेष ऊँचाई को ग्रहण करता है।[7]

- **लोक के तीन विभाग**

सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविदंमाणेण।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढभेएण।।136।।[8]

भावार्थ :- यह संपूर्ण लोक श्रेणी के प्रमाण से निर्मित है और तीन प्रकार का जानना चाहिए— अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।[9] यह विभाजन केवल स्थानगत नहीं है। तीनों क्षेत्रों की जीव-संरचना और कर्मफल की अवस्थाएँ भी भिन्न हैं।

- **अधोलोक एवं सात नरक-पृथिवियाँ**

मेरु पर्वत के नीचे सात राजू प्रमाण क्षेत्र में अधोलोक का विस्तार माना गया है। इसमें सात पृथिवियाँ क्रमशः हैं—

---

[4] **तिलोयपण्णत्ति 1/149**
[5] **तिलोयपण्णत्ति 1/150**
[6] **तिलोयपण्णत्ति 1/151**
[7] **अन्य संदर्भ—** धवला, 4/1,3,2/गाथा 8/11; त्रिलोकसार, 113; जंबूद्वीपपण्णत्तिसंगहो, 4/11, 16-17
[8] **तिलोयपण्णत्ति 1/136**
[9] **संदर्भ—** तिलोयपण्णत्ति 1/136; बारस अणुवेक्खा 39; धवला 13/5,5,50/288/4

1. **रत्नप्रभा**
2. **शर्कराप्रभा**
3. **बालुकाप्रभा**
4. **पंकप्रभा**
5. **धूमप्रभा**
6. **तमःप्रभा**
7. **महातमःप्रभा**

सातवीं पृथिवी के नीचे कलकल लोक का भी उल्लेख मिलता है।

इहरयणसक्करावालुपंकधूमतममहातमादिपहा।
सुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जुअंतरिआ।।152।।

धम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ।
माघविया इय ताणं पुढवीणं वोत्तणामाणि।।153।।[10]

इन गाथाओं में सात पृथिवियों के नाम तथा उनके वैकल्पिक नामों का उल्लेख है।

- **रत्नप्रभा की संरचना**

प्रथम पृथिवी रत्नप्रभा के तीन प्रमुख विभाग बताए गए हैं—

- **खरभाग**
- **पंकभाग**
- **अब्बहुल भाग**

इनकी मोटाई क्रमशः 16,000, 84,000 और 80,000 योजन बताई गई है। इस संरचना का विस्तृत विवरण आगम-अनुयोग की प्रश्नोत्तर सामग्री में भी मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन

[10] **तिलोयपण्णत्ति 1/152-153**

नरक-विज्ञान केवल नैतिक अथवा धार्मिक अवधारणा नहीं है; उसके साथ एक विस्तृत **स्थानिक एवं संरचनात्मक भूगोल** भी प्रस्तुत किया गया है।

- **नरक-बिलों की संरचना**

सातों नरक-पृथिवियों में नरक-बिलों की विस्तृत व्यवस्था है। इनके तीन प्रमुख प्रकार हैं—

1. इन्द्रक

प्रत्येक पटल के मध्य स्थित प्रमुख बिल।

2. श्रेणिबद्ध

दिशाओं एवं विदिशाओं में पंक्तिबद्ध रूप से स्थित बिल।

3. प्रकीर्णक

बीच-बीच में बिखरे हुए बिल।

सातों पृथिवियों में कुल **84 लाख नरक-बिलों** का उल्लेख है। इन बिलों को नारकी जीवों के निवास एवं उत्पत्ति से जोड़ा गया है। इससे जैन लोकविज्ञान में अधोलोक की अत्यंत सूक्ष्म स्थानिक व्यवस्था का पता चलता है।

- **मध्यलोक**

मध्यलोक जैन लोकविज्ञान का विशेष महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। इसमें असंख्यात द्वीप और समुद्र एक-दूसरे को वलयाकार रूप में घेरे हुए हैं। इनके मध्य **जंबूद्वीप** तथा उसके मध्य में **सुमेरु पर्वत** स्थित है।

प्रमुख द्वीप-सागर हैं—

- जंबूद्वीप
- लवणोदधि
- धातकीखण्ड
- कालोदधि

- पुष्करवर
- पुष्करवर समुद्र

यह व्यवस्था क्रमशः विस्तृत होते हुए वलयाकार रूप ग्रहण करती है।

- **ढाई द्वीप एवं मनुष्यलोक**

जंबूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध को मिलाकर **ढाई द्वीप** की संकल्पना की गई है। मानुषोत्तर पर्वत को इसकी सीमा का निर्धारक माना गया है। इसके आगे मनुष्यों की गति नहीं मानी गई है। इस प्रकार जैन भूगोल में मनुष्यलोक का निर्धारण केवल आधुनिक अर्थ में पृथ्वी अथवा किसी महाद्वीप से नहीं होता, बल्कि एक विशिष्ट **ढाई-द्वीपात्मक क्षेत्र** से होता है। यह तथ्य जैन लोकविज्ञान की विशिष्ट क्षेत्रीय अवधारणा को प्रकट करता है।

- **ऊर्ध्वलोक**

मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक का विस्तार है। इसकी प्रमुख अवस्थाएँ इस प्रकार दी गई हैं—

- 16 स्वर्ग
- 9 ग्रैवेयक
- 9 अनुदिश
- 5 अनुत्तर विमान
- सिद्धलोक

लोक के सर्वोच्च भाग में सिद्ध जीव स्थित होते हैं और वहीं संसार-पर्याय का अंत होकर मोक्ष की स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक केवल देव-निवास का क्षेत्र नहीं, बल्कि संसार से मोक्ष की ओर जाने वाली ऊर्ध्व संरचना का अंतिम भाग भी है।

- **वातवलय की संकल्पना**

जैन लोकविज्ञान की अत्यंत विशिष्ट अवधारणाओं में **वातवलय** है। लोक को तीन प्रकार के वातवलय घेरे हुए हैं—

1. **घनोदधि वातवलय**
2. **घनवात वातवलय**
3. **तनुवात वातवलय**

गोमुत्तमुग्गवण्णा घणोदधी तह घणाणिलओ वाऊ।
तणुवादो बहुवण्णो रुक्खस्स तयं व वलयातियं।।268।।[11]

भावार्थ : घनोदधि गोमूत्र के समान वर्ण वाला, घनवात मूंग के समान वर्ण वाला तथा तनुवात अनेक वर्णों वाला है। ये तीनों वातवलय वृक्ष की त्वचा के समान लोक को घेरे हुए हैं।

- **तीन वातवलयों का क्रम**

पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो ततो।
तप्परदो तणुवादो अंतम्मि णहं णिआधारं।।269।।[12]

भावार्थ : प्रथम घनोदधि लोक का आधार है; उसके पश्चात् घनवात, फिर तनुवात और अंत में आकाश है। अतः क्रम इस प्रकार है– **लोक → घनोदधि → घनवात → तनुवात → आकाश**[13]

यहाँ 'वातवलय' को आधुनिक वायुमंडल का प्रत्यक्ष पर्याय मानना उचित नहीं है। यह जैन लोकविज्ञान की विशिष्ट ब्रह्माण्डीय संरचनात्मक संकल्पना है।

- **पृथिवियों एवं वातवलय का संबंध**

सत्तच्चिय भूमीओ णवदिसभागेण घणोवहिविलग्गा।
अट्ठमभूमीदसदिसभागेसु घणोवहिं छिवदि।।24।।[14]

---

[11] **तिलोयपण्णत्ति 1/268**
[12] **तिलोयपण्णत्ति 1/269**
[13] इस विषय में सहायक सामग्री में *सर्वार्थसिद्धि 3/1/204/3, राजवार्तिक 3/1/8/160/14 तथा तत्त्वार्थवृत्ति 3/1/श्लोक* 1-2/112 के संदर्भ भी दिए गए हैं।

[14] **तिलोयपण्णत्ति 2/24**

भावार्थ :- सातों पृथिवियाँ ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर नौ दिशाओं में घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं, जबकि आठवीं पृथिवी दसों दिशाओं में घनोदधि वातवलय को स्पर्श करती है। यह गाथा वातवलय को लोक की बाहरी संरचना के साथ जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

- **वातवलयों का विस्तार एवं मोटाई**

तिलोयपण्णत्ति 1/270-281 में वातवलयों के विस्तार एवं मोटाई का गणितीय विवेचन उपलब्ध है। प्रारम्भिक गाथा में कहा गया है—

जोयणवीससहस्सां बहलंतम्मारुदाण पत्तेक्कं...।।270।।[15]

इसके आगे 271-273 तथा 280-281 तक विभिन्न क्षेत्रों में वातवलयों की मोटाई एवं विस्तार का क्रम दिया गया है। वातवलयों की मोटाई सर्वत्र समान नहीं है। अधोभाग और पार्श्व भागों में ये अधिक मोटे हैं तथा मध्यलोक की ओर आते हुए इनकी मोटाई क्रमशः कम होती है। मध्यलोक की दिशाओं में पाँच, चार और तीन योजन तक की मोटाई का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वातवलय स्थिर, समान मोटाई वाली तीन गोलाकार परतें मात्र नहीं हैं, बल्कि लोक की संरचना के अनुसार उनकी मोटाई में भी परिवर्तन माना गया है।

➢ **त्रसनाड़ी : स्वरूप एवं आयाम**

लोक के मध्य भाग में स्थित एक विशिष्ट नाड़ी को त्रसनाड़ी कहा जाता है। सामान्यतः त्रस जीव इसके बाहर नहीं रहते, इसी कारण इसका नाम त्रसनाड़ी पड़ा है। स्रोत में इसके आयाम—

- लंबाई — 1 राजू
- चौड़ाई — 1 राजू
- ऊँचाई — 14 राजू

बताए गए हैं।

➢ **त्रसनाड़ी की सार्थकता**

[15] *तिलोयपण्णत्ति* 1/270-281

'त्रसनाड़ी' नाम ही इसके प्रयोजन को स्पष्ट करता है— **त्रस जीवों के निवास का विशिष्ट क्षेत्र = त्रसनाड़ी।** इसके विपरीत पाँचों स्थावर काय के जीवों का विस्तार सम्पूर्ण लोक में माना गया है। पाँच स्थावर काय हैं—

1. पृथिवीकायिक
2. अप्कायिक
3. तेजस्कायिक
4. वायुकायिक
5. वनस्पतिकायिक

इनका लोक-वितरण व्यापक है, जबकि त्रस जीवों का सामान्य निवास त्रसनाड़ी में माना गया है। इससे जैन जीवविज्ञान में **जीव के काय और उसके निवास-क्षेत्र** का संबंध स्पष्ट होता है।

➢ **त्रसनाड़ी से बाहर त्रस जीवों की संभावना**

त्रसनाड़ी सामान्य निवास-नियम है, पूर्णतः निरपेक्ष स्थानबंदी नहीं। आगमिक विवेचन में विशेष अवस्थाओं में इसके बाहर त्रस जीव के संबंध की चर्चा है।

- **उपपाद की अपेक्षा** – यदि कोई स्थावर जीव त्रस पर्याय में उत्पन्न होने वाला है और विग्रहगति में त्रसनामकर्म का उदय हो जाता है, तो विशेष स्थिति में त्रसनाड़ी के बाहर भी त्रस जीव की स्थिति मानी जा सकती है।
- **मारणान्तिक समुद्घात**– त्रसनाड़ी के भीतर स्थित त्रस जीव आगामी स्थावर पर्याय के लिए मरण से पूर्व मारणान्तिक समुद्घात करता है। ऐसी स्थिति में वह त्रसनाड़ी के बाहर भी पाया जा सकता है।
- **लोकपूरण समुद्घात** – केवली भगवान के लोकपूरण समुद्घात में आत्मप्रदेश समस्त लोक में फैलते हैं। उस विशेष अवस्था में त्रसनामकर्म के संबंध से त्रसनाड़ी के बाहर होने की व्याख्या की गई है इसलिए त्रसनाड़ी को **त्रस जीवों का सामान्य क्षेत्र** कहना अधिक उचित है, न कि पूर्णतः अभेद्य सीमा।

➢ **त्रसनाड़ी में भी त्रस जीवों का समान वितरण नहीं**

त्रसनाड़ी के प्रत्येक भाग में त्रस जीव समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं। अधोलोक के अंतिम भाग तथा ऊर्ध्वलोक की कुछ सीमाओं को त्रस जीवों से रहित बताया गया है। सातवीं पृथिवी के नीचे स्थित कलकल लोक में केवल पाँच स्थावर कायों के जीवों की उपस्थिति तथा ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि विमान तक त्रस जीवों की उपलब्धता का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि त्रसनाड़ी को केवल ज्यामितीय नाड़ी के रूप में नहीं, बल्कि विशिष्ट जीव-क्षेत्र के रूप में समझना चाहिए।

- **जीवोत्पत्ति :-** जैन दर्शन में जीव कहीं से उत्पन्न होकर अस्तित्व में नहीं आता। जीव **अनादि** है। अतः 'जीवोत्पत्ति' का अर्थ आत्मा की नवीन सृष्टि नहीं, बल्कि जीव की एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जन्म-प्राप्ति है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये जीव की चार गतियाँ हैं। कर्म के उदय के अनुसार जीव इन गतियों में जन्म ग्रहण करता है इसीलिए जीवोत्पत्ति का उचित अर्थ है— **कर्म के उदय के अनुसार जीव का किसी विशिष्ट गति, शरीर और क्षेत्र में नई पर्याय के रूप में प्रकट होना**। यह दृष्टि जैन पुनर्जन्म-सिद्धान्त को सृष्टिवाद से स्पष्ट रूप से अलग करती है।
- **नारकी जीवों की उत्पत्ति :- आगम-अनुयोग के अध्याय 6** में नारकी जीवों के उत्पत्ति-स्थानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। नरक-बिलों के ऊपरी भाग में विशिष्ट उत्पत्ति-स्थान बताए गए हैं। ये उत्पत्ति-स्थान विभिन्न प्रकार के शस्त्रों से युक्त, अधोमुख कण्ठ तथा विभिन्न मुखाकारों वाले बताए गए हैं। यहाँ 'उत्पत्ति' केवल जन्म की सूचना नहीं है; **जन्म-स्थान की संरचना भी जीव की भावी पर्याय के अनुभव से जुड़ी हुई है।**
- **नारकी जीव की उत्पत्ति के समय की अवस्था :-** नारकी जीव उत्पन्न होते ही तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिरते हैं, फिर ऊपर उछलते हैं और पुनः शस्त्रों पर गिरते हैं। विभिन्न नरक-पृथिवियों के अनुसार इस उछाल की ऊँचाई अलग-अलग बताई गई है। यह विवरण नरकगति को **दुःखप्रधान कर्मफल की तत्काल अनुभूति** के रूप में प्रस्तुत करता है। नरकगति किसी बाह्य सत्ता द्वारा दिया गया दण्ड नहीं, बल्कि जीव के पूर्वकृत कर्मों की फलित पर्याय है।
- **नरकगति से निकलने वाले जीव :-** जीव की वर्तमान गति स्थायी नहीं है। नरकगति से निकलने के पश्चात् जीव मनुष्य अथवा तिर्यंच गति में जन्म ग्रहण कर सकता है। सातवीं पृथिवी से निकलने वाले जीव के संबंध में विशेष रूप से तिर्यंच गति में जन्म लेने का नियम बताया गया है।

इससे जैन कर्मसिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आता है—**वर्तमान गति जीव की शाश्वत पहचान नहीं है।** कर्मगत सीमाएँ आगामी पर्याय को प्रभावित करती हैं, किंतु नरकगति अंतिम आध्यात्मिक नियति नहीं है।

➢ **नरकगति और आगामी आध्यात्मिक संभावना**

विभिन्न नरक-पृथिवियों से निकलने वाले जीवों की आगामी आध्यात्मिक उपलब्धियों का भी विवेचन है—

नरक-पृथिवी से निकलने वाला जीव	**उपलब्धि की संभावना**
• प्रथम, द्वितीय, तृतीय	विशिष्ट परिस्थितियों में तीर्थंकर पद
• चतुर्थ	केवलज्ञान एवं मोक्ष
• पंचम	सकल संयम
• षष्ठ	सम्यग्दर्शन

ये विवरण इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि नरकगति जीव की स्थायी आध्यात्मिक पहचान नहीं है। इसका दार्शनिक निष्कर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—**जीव की वर्तमान अधोगति उसके मोक्ष-सामर्थ्य का पूर्ण निषेध नहीं करती।**

➢ **नरकगति के कारण एवं कर्म**

नरकगति में जन्म के कारणों में अत्यधिक हिंसा, परिग्रह में आसक्ति, मिथ्यात्व की प्रबलता, मद्य-मांस-मधु का सेवन, देव-शास्त्र-गुरु का अवर्णवाद, मुनिहत्या, परधनहरण आदि का उल्लेख मिलता है। इससे जैन लोकविज्ञान सीधे **कर्मविज्ञान और नैतिक दर्शन** से जुड़ जाता है। नरक किसी ईश्वर द्वारा निर्धारित दण्ड-स्थल नहीं है; वह जीव के स्वयं उपार्जित कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त पर्याय है। अतः जैन लोकविज्ञान को **नैतिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान** भी कहा जा सकता है।

➢ **जीवोत्पत्ति की क्षेत्रीय सीमा**

जैन लोकविज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि प्रत्येक जीव प्रत्येक स्थान पर उत्पन्न नहीं हो सकता। विभिन्न जीवों के लिए विभिन्न नरक-पृथिवियों तक उत्पत्ति की सीमाएँ बताई गई हैं।

पंचेन्द्रिय जीव, विभिन्न तिर्यंच वर्ग तथा मनुष्य एवं महामत्स्य के लिए पृथिवीगत सीमाओं का उल्लेख है। इससे निम्न कारकों के बीच संबंध स्पष्ट होता है—

- इन्द्रियत्व
- शरीर
- संहनन
- कर्म
- गति
- पर्याय
- क्षेत्र

अर्थात् जीव की पर्याय और उसका क्षेत्र परस्पर सम्बद्ध हैं।

- **लोक का मध्य और आठ प्रदेश**

लोक के मध्य को केवल ज्यामितीय केंद्र नहीं माना गया है। वज्र एवं वैडूर्य पटलों के मध्य चौकोर संस्थान के रूप में स्थित आकाश के आठ प्रदेशों को लोक का मध्य बताया गया है। इस मध्य-बिंदु की विशेषता यह है कि इससे अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक की संरचनात्मक व्यवस्था को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से लोक का मध्य एक **संरचनात्मक संक्रमण-बिंदु** है।

- **लोक-रचना और जीव-रचना का पारस्परिक संबंध**

जैन लोकविज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि लोक की भौगोलिक संरचना और जीव की आध्यात्मिक यात्रा एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

अधोलोकः- अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त नरकगतियों का क्षेत्र।

मध्यलोक :- मनुष्य, तिर्यंच तथा पुरुषार्थ की प्रमुख भूमि।

ऊर्ध्वलोक :- देवगतियों से सिद्धलोक तक की ऊर्ध्व संरचना।

त्रसनाड़ी :- त्रस जीवों का विशिष्ट सामान्य निवास-क्षेत्र।

वातवलय :- लोक की बाहरी संरचनात्मक आधार-व्यवस्था।

इस प्रकार लोक का प्रत्येक भाग जीव की गति, कर्म और पर्याय से सम्बद्ध है।

- **समन्वित लोक-रचना :-** जैन लोक की ऊर्ध्वाधर संरचना को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

सिद्धलोक

|

अनुत्तर विमान

|

अनुदिश / ग्रैवेयक

|

16 स्वर्ग

|

ऊर्ध्वलोक

|

त्रसनाड़ी

|

मध्यलोक

जंबूद्वीप—सुमेरु

|

असंख्यात द्वीप-सागर

|

अधोलोक

7 नरक-पृथिवियाँ

|

कलकल लोक

|

तीन वातवलयों का आधार

|

आकाश

यह रूपरेखा संरचनात्मक विवरण का वैचारिक संक्षेप है।

- **जैन लोकविज्ञान की प्रमुख दार्शनिक विशेषताएँ**

- **लोक अकृत्रिम है:-** लोक किसी सृष्टिकर्ता द्वारा निर्मित नहीं है।
- **लोक सीमित, आकाश अनन्त है:-** लोक का विस्तार निश्चित है, जबकि उसके बाहर अलोकाकाश अनन्त है।
- **जीव अनादि है:-** जीव का जन्म नई आत्मा की सृष्टि नहीं, बल्कि पर्याय का परिवर्तन है।
- **कर्म गति का नियामक है :-** जीव कर्मानुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव गति प्राप्त करता है।
- **क्षेत्र भी कर्मानुकूल है :-** प्रत्येक जीव प्रत्येक क्षेत्र में जन्म लेने में समर्थ नहीं है।
- **मोक्ष लोकाग्र पर है:-** संसारी जीव की गति का अंतिम लक्ष्य सिद्धलोक है।

- **आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में सावधानी**

जैन लोकविज्ञान का आधुनिक विज्ञान से अध्ययन करते समय दो अतियों से बचना आवश्यक है।

पहली अति यह होगी कि जैन लोकविज्ञान के प्रत्येक वर्णन को बिना स्वतंत्र परीक्षण के आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समान घोषित कर दिया जाए। **दूसरी अति** यह होगी कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रतिमान से भिन्न होने के कारण जैन आगमिक वर्णनों को मात्र कल्पना मान लिया जाए।

पृथ्वी के प्रारंभिक अग्निगोल स्वरूप, क्रमिक शीतलीकरण तथा तीन वातवलयों और वायुमंडलीय परतों के बीच संभावित संरचनात्मक साम्य की ओर संकेत किया गया है किंतु अकादमिक दृष्टि से इन समानताओं को **समान ज्ञान-प्रतिमानों की निर्णायक समानता** न मानकर तुलनात्मक अध्ययन की संभावना के रूप में देखना अधिक उचित होगा।

अतः निष्पक्ष निष्कर्ष यही है कि जैन लोकविज्ञान और आधुनिक विज्ञान दो भिन्न ज्ञान-परम्पराओं के प्रतिमान हैं; इनके बीच साम्य अथवा वैषम्य का निर्णय स्वतंत्र प्रमाणों के आधार पर किया जाना चाहिए।

- **लोक-रचना की आध्यात्मिक व्याख्या**

लोक की अधोलोक-मध्यलोक-ऊर्ध्वलोक संरचना की एक आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। अधोलोक को विवेकहीन एवं वासना-प्रधान अवस्था, मध्यलोक को विवेक-जागरण तथा ऊर्ध्वलोक को क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति के प्रतीक के रूप में समझने का प्रयास किया गया है।

हालाँकि यहाँ यह सावधानी आवश्यक है कि **आगमिक लोक-रचना और उसकी प्रतीकात्मक आध्यात्मिक व्याख्या को समान स्तर का प्रमाण न माना जाए।** आगमिक संरचना का अपना वस्तुगत विवरण है, जबकि प्रतीकात्मक व्याख्या उसके दार्शनिक अर्थ को समझने का एक अतिरिक्त प्रयास है।

36. प्रमुख अवधारणाओं का सार

अवधारणा	**जैन लोकविज्ञान में स्वरूप**	**प्रमुख महत्त्व**
लोक	षट्द्रव्यों का क्षेत्र	संसार की संरचना
अलोक	लोक के बाहर अनन्त आकाश	लोक की सीमा
अधोलोक	सात नरक-पृथिवियाँ	नरकगति
मध्यलोक	द्वीप-सागर एवं मेरु	मनुष्य एवं त्रस जीवों का प्रमुख क्षेत्र
ऊर्ध्वलोक	स्वर्ग से सिद्धलोक तक	ऊर्ध्वगति एवं मोक्ष
घनोदधि	प्रथम वातवलय	लोक का आधार
घनवात	द्वितीय वातवलय	संरचनात्मक परत

तनुवात	तृतीय वातवलय	बाह्य वात-परत
त्रसनाड़ी	मध्य की एक राजू चौड़ी नाड़ी	त्रस जीवों का सामान्य क्षेत्र
स्थावर जीव	सम्पूर्ण लोक में उपलब्ध	पाँच स्थावर काय
नरक-बिल	सात पृथिवियों में विशिष्ट स्थान	नारकी जीवों का उत्पत्ति/निवास क्षेत्र
मनुष्यलोक	ढाई द्वीप	मनुष्य जन्म एवं पुरुषार्थ
सिद्धलोक	लोकाग्र	मुक्त जीवों की स्थिति

यह समन्वित संरचना लोक-रचना एवं जीव-वितरण के विवरण को एक साथ रखती है।

- **निष्कर्ष**

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जैन लोकविज्ञान को केवल प्राचीन ब्रह्माण्ड-वर्णन मानना उसके वास्तविक दार्शनिक महत्त्व को सीमित कर देना होगा। **प्रथम**, लोक केवल भौगोलिक क्षेत्र नहीं है; वह षट्द्रव्यात्मक अस्तित्व का क्षेत्र है। **द्वितीय**, लोक अनादि और अकृत्रिम है। उसकी सत्ता किसी सृष्टिकर्ता पर निर्भर नहीं है। **तृतीय**, लोक की ज्यामिति विशिष्ट है। उसका वेत्रासन-मृदंगाकार एवं तालवृक्षाकार वर्णन उसे अन्य ब्रह्माण्डीय प्रतिमानों से अलग करता है। **चतुर्थ**, चौदह राजू की ऊँचाई तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का सुव्यवस्थित विभाजन उसकी संरचनात्मक सूक्ष्मता को प्रकट करता है। **पंचम**, घनोदधि, घनवात और तनुवात—तीन वातवलय लोक की विशिष्ट बाह्य संरचनात्मक व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। इनके क्रम, वर्ण तथा मोटाई का विशद विवरण जैन आचार्यों की लोक-रचना संबंधी सूक्ष्म दृष्टि को दर्शाता है। **षष्ठ**, त्रसनाड़ी जैन जीवविज्ञान की अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थानिक संकल्पना है। त्रस जीवों का सामान्य निवास इससे सम्बद्ध है, जबकि स्थावर जीवों का विस्तार सम्पूर्ण लोक में माना गया है। साथ ही विशेष समुद्घात आदि अवस्थाओं के कारण यह सीमा पूर्णतः निरपेक्ष नहीं है। **सप्तम**, जीवोत्पत्ति का अर्थ आत्मा की नवीन सृष्टि नहीं है। जीव अनादि है; कर्म के उदय के अनुसार उसकी पर्याय और गति बदलती है। **अष्टम**, जीवों की उत्पत्ति क्षेत्र-विशेष से सम्बद्ध है। प्रत्येक जीव प्रत्येक क्षेत्र में उत्पन्न नहीं हो सकता। इन्द्रियत्व, शरीर, संहनन, कर्म, गति, पर्याय और क्षेत्र के बीच एक विशिष्ट संबंध दिखाई देता है। **नवम**, नरकगति भी जीव की अंतिम नियति नहीं है। नरकगति से निकलने वाले जीवों के लिए मनुष्य अथवा तिर्यंच गति की संभावनाएँ तथा विभिन्न स्तरों पर सम्यग्दर्शन, संयम, केवलज्ञान एवं तीर्थंकरत्व से संबंधित आध्यात्मिक संभावनाएँ उपलब्ध सामग्री में वर्णित हैं। **दशम**, जैन लोकविज्ञान मूलतः कर्मविज्ञान से संबद्ध है। लोक जीव के लिए केवल निवास-स्थान नहीं, बल्कि कर्मफल की अभिव्यक्ति का क्षेत्र है।

➢ उपसंहार

जैन दर्शन का लोकविज्ञान संसार को केवल एक विशाल भौतिक संरचना के रूप में नहीं देखता। उसके लिए लोक वह **व्यवस्थित क्षेत्र है जिसमें जीव अपनी कर्मबद्ध पर्यायों के साथ अनादिकाल से भ्रमण करता है और जहाँ से मोक्ष की दिशा भी संभव होती है।** अधोलोक जीव को अशुभ कर्मों के फल का अनुभव कराता है; मध्यलोक पुरुषार्थ और साधना का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है; ऊर्ध्वलोक देवगतियों से सिद्धलोक तक की ऊर्ध्व संरचना को व्यक्त करता है। लोक के मध्य स्थित त्रसनाड़ी जीवों के स्थानिक वितरण की सूक्ष्मता को प्रकट करती है, जबकि स्थावर जीवों की व्यापक उपलब्धता जीव-जगत की सर्वव्यापकता का संकेत देती है।

तीन वातवलय—**घनोदधि, घनवात और तनुवात**—लोक की संरचनात्मक व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं। इनके क्रम, वर्ण एवं मोटाई का आगमिक विवेचन इस बात का प्रमाण है कि जैन आचार्यों ने लोक-रचना को अत्यंत व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादित किया।

जीवोत्पत्ति के संदर्भ में जैन सिद्धान्त की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि **जीव कभी नया उत्पन्न नहीं होता; उसकी पर्याय बदलती है।** नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये कर्मानुसार प्राप्त होने वाली गतियाँ हैं।

इस प्रकार जैन लोकविज्ञान का समग्र सूत्र इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है— **"लोक स्थान है, कर्म उसकी गति का नियामक है, जीव उसका भोक्ता है, पर्याय उसकी यात्रा है और मोक्ष उस यात्रा की पूर्णता है।"** अतः **लोक-रचना का अध्ययन वस्तुतः जीव की संसार-यात्रा का अध्ययन भी है।**

संदर्भ-ग्रंथ एवं स्रोत

1. **तिलोयपण्णत्ति** — 1/136-138; 1/149-153; 1/268-281; 2/24 आदि।
2. **धवला** — 4/1,3,2/गाथा 6/11; गाथा 7/11; गाथा 8/11; 13/5,5,50/288/4।
3. **राजवार्तिक** — 3/1/8/160/14-16; 5/12/10-13/455/20।
4. **त्रिलोकसार** — 6; 113; 123 आदि।
5. **जंबूद्वीपपण्णत्तिसंगहो** — 4/4-9; 4/11, 16-17 आदि।

6. **सर्वार्थसिद्धि** — 3/1/204/3।

7. **तत्त्वार्थवृत्ति** — 3/1/श्लोक 1-2/112; 3/1/111/19।

8. **द्रव्यसंग्रह टीका** — 35/112/11।

9. **बारस अणुवेक्खा** — गाथा 39।

10. **आगम-अनुयोग, अध्याय 6 — लोक रचनादि — प्रश्नोत्तरात्मक सामग्री।**